

स्त्री विमर्श एवं स्त्री लेखन के विविध आयाम

*प्रिया सिंह

‘स्त्री विमर्श’ शब्द सुनते ही पहला प्रश्न जो दिमाग में आता है वह है स्त्रियों की ‘स्वाधीनता’ का प्रश्न। स्वाधीनता की चिंता प्रायः उसे होती है जिसे पराधीनता का बोध हो। स्त्री के सन्दर्भ में ये बात कब प्रकाश में आई यह कहना कठिन है, लेकिन इतिहास इस बात का साक्षी है कि दुनिया के हर देश, वर्ग, नस्ल और संप्रदाय की स्त्री पराधीनता के एहसास से अवश्य गुजर चुकी है। चाहे उसके विरोध के तरीके भिन्न हों, लेकिन स्त्रियाँ वस्तु से व्यक्ति बने की ओर अग्रसर थीं और जिन्हें ये सुविधा सहज उपलब्ध नहीं थीं, वे मन ही मन इसकी आकांक्षा अवश्य कर रही थीं। प्रायः यह सुना जाता है कि स्त्री विमर्श एक आयातित विचारधारा है। इंग्लैड के जॉन स्टुअर्ड मिल को स्त्रीवाद संघर्ष का पुरोधा माना जाता है, इन्होंने अपनी पुस्तक ‘स्त्री की पराधीनता’ में नारी को सामाजिक बन्धनों से मुक्त होने को प्रतिरिक्षित किया तथा उनकी स्वतंत्रता की मुहिम में वे शामिल हुए। परन्तु यह जानकर सुखद आश्चर्य होता है कि नारी मुक्ति आन्दोलन की बाइबिल ‘द सेकंड सेक्स’ (1953) जिसने दुनिया भर को नारी मुक्ति की प्रेरणा दी उससे पूर्व हिंदी में नारी जीवन से सम्पन्न अज्ञात हिन्दू विधवा की ‘सीमान्तनी उपदेश’ (1882) और महादेवी वर्मा की ‘शृंखला की कड़ियाँ’ (1942) में प्रकाशित हो चुकी थीं। यह इस बात का प्रतीक है कि भारत में नारी मुक्ति का बीजारोपण बिना किसी आयातित प्रेरणा के उन्नीसवीं सदी में हो चुका था। इन सबसे भी पहले स्त्री के भीतर पलते मुक्तिकामी स्वजन और संकल्प को इतनी ही शिद्दत के साथ मीराबाई दे चुकी हैं – साहित्य में भी और अपने निजी जीवन में भी। इनके अतिरिक्त लोकगीतों में भी स्त्री की पराधीनता का बोध बड़े दिलचस्प ढंग से हुआ है जिसे महिलाएं शादी-ब्याह के मौके पर अभिव्यक्त किया करती थीं। जैसे “अगले जन्म मोहे बिटिया ना काजो, चाहे नरक में दीजो डारा” चूँकि ये गीत गेय परम्परा की देन हैं इसलिए इनका कोई सुनियोजित इतिहास नहीं है।

स्त्री विमर्श की परिकल्पना भले ही पश्चिम से प्रभावित है लेकिन भारत में इसकी अपनी जड़ें मौजूद हैं। प्रचीन काल में ऋषि वात्स्यायन के ‘कामसूत्र’ से लेकर बौद्धकालीन ‘थेरीगाथा’ तक मध्यकाल में ‘सीमांत उपदेश’ से ‘मीराबाई’ तक तथा आधुनिक भारत में बंग महिला की ‘दुलाई वाली’ से लेकर महादेवी वर्मा की ‘शृंखला की कड़ियाँ’ में नारी अधिकार व मुक्ति के लिए जोरदार तरीके से आवाज उठायी है। यूँ तो स्त्री मुक्ति आन्दोलन के बीज पहले से ही भारत में विद्यमान थे, किन्तु ‘आधुनिकता’ एवं बीसवीं शताब्दी के उत्तराधि में अस्तित्व में आई ‘उत्तर आधुनिकता’ की अवधारणा से इसे बल प्राप्त हुआ। उत्तर आधुनिकता तर्कवाद द्वारा इच्छित वर्चस्व को प्रश्नांकित करता है और यहाँ स्त्रीवाद गहराई से उत्तर आधुनिकतावादी बनता है। क्योंकि स्त्री विमर्श भी पुरुष सत्ता के वर्चस्व को चुनौती देता है।

वैदिक साहित्य के अध्ययन से ज्ञात होता है कि उस समय स्त्री को जीवन के हर क्षेत्र में पुरुषों के समान ही अधिकार व अवसर प्राप्त थे। कला, संस्कृति, विद्या आदि के क्षेत्र में वह पुरुषों के समान ही पहल कर सकती थी। धार्मिक अनुष्ठानों में उनके लिए कोई बाधा नहीं थी। मैत्रेयी, गार्गी, लोपामुद्रा आदि नारियाँ उसी युग की देन हैं। महाभारत काल के बाद स्त्रियों की रिथिति में झास आता गया। उनके धार्मिक अधिकार कम कर दिए गए, शिक्षा व सार्वजनिक जीवन में भाग लेने की स्वतंत्रता सीमित हो गयी। शिक्षा व शास्त्र ज्ञान से वंचित स्त्री कर्तव्य व अधिकार

*शोध छात्रा (हिंदी विभाग), डॉ. शकुन्तला मिश्रा राष्ट्रीय पुनर्वास विश्वविद्यालय, लखनऊ (उ.प्र.)

की भूलभूलैया में फंसकर रह गयी, निर्णय लेने में असमर्थ तथा पुरुषों पर निर्भर। भारत में होने वाले विदेशी आक्रमणों तथा आक्रान्ताओं के कारण स्त्रियों की स्थिति और भी चिंताजनक हो गयी। धर्म, समाज, राष्ट्र कहीं भी उसे उचित स्थान एवं मर्यादा नहीं मिली। दोयम की नागरिकता जीते-जीते स्त्रियों ने अपने लिए गढ़े उपनामों सदृश्यों और भार्या, गृहणी, रमणी आदि शब्दों से समझौता कर लिया। स्त्री को देह तक रिड्यूस कर दिया गया, यहाँ तक की नायिका भेद भी उसकी देह की आकृति के आधार पर किया गया जैसे-पद्मिनी, गजगामिनी, राष्ट्रोल कंटिलस्तभा आदि। प्रायः सभी शब्दों में उसकी देह दर्ज है। यानी स्त्री की अहमियत सिर्फ एक देह और देह से वस्तु तक है। सिमोन दी बोउवार ने अपनी पुस्तक 'द सेकेंड सेक्स' में इस तथ्य को उजागर करते हुए लिखा है- "पुरुष ने स्वयं को विशुद्ध चित्त के रूप में परिभाषित किया है और स्त्रियों की स्थिति का अवमूल्यन करते हुए उन्हें 'अन्य' के रूप में परिभाषित किया है। इस प्रकार स्त्रियों को वस्तु में निरूपित किया गया है।" इसी देह के आधार पर लड़के एवं लड़की की परवरिश में भी अंतर रखा गया है। लड़कियाँ अपनी बनावट के कारण ऐसे स्थान पर रही जहाँ उनकी सुरक्षा हो सके चूँकि सुरक्षा का दायित्व पुरुष पर था इसलिए समाज के प्रत्येक संसाधन पर उसका अधिकार हो गया और स्त्री चार दीवारी में कैद कर दी गयी। स्त्री को पुरुष की आश्रिता घोषित करने के लिए मनुस्मृति के इस कथन को सर्वसम्मति के साथ स्वीकार कर लिया गया है- "पिता रक्षति कौमार्ये, भर्ता रक्षति यौवने, सुतः रक्षति वार्धक्ये, न स्त्री स्वातंत्र्यम् अर्हसि।" इसके अनुसार स्त्री स्वतंत्रता के योग्य नहीं है, पुरुष को पिता, पति और पुत्र के रूप में स्त्री की रक्षा का दायित्व सौंपा गया है। इस कथन से इस बात की पुष्टि होती है कि 'स्त्री पैदा नहीं होती, बना दी जाती है'। बचपन से ही उन्हें पुरुष की आश्रित बनाने की सीख एवं संस्कार देकर स्त्री बनाया जाता है। यहाँ तक कि समाज में देह के इस्तेमाल की स्वतंत्रता का चुनाव स्त्री को नहीं दिया गया, उसे कहाँ कितनी छूट देनी है इसका चुनाव भी पुरुष ही करता है।

भारतीय परिवार का पितृसत्तात्मक ढांचा स्त्रियों की दीन दशा के लिए काफी हद तक उत्तरदायी है। स्त्री विमर्श अपनी मूल चेतना में स्त्री को पराधीन बनाने वाली पितृसत्तात्मक समाज व्यवस्था का ही विरोध करता है। इस समाज में परिवार जनतांत्रिक आधारों पर नहीं वरन् पुरुष मुखिया की निरकुंश सत्ता पर आधारित होता है, इसी निरकुंश सत्ता का दूसरा पहलू स्त्रियों की घेरलू दासता तथा पराधीनता भी है। परिवार के सभी अहम् फैसले, शिक्षा, विवाह, सम्पत्ति आदि में सम्बंधित सभी निर्णय सिर्फ पुरुष के होते हैं, स्त्रियों को न तो इसमें हिस्सा लेने का अधिकार होता है और न ही अपनी इच्छा प्रकट करने का। भारत में मौजूदा असंयुक्त परिवार संयुक्त परिवार की तुलना में अधिक विकसित माने जाते हैं, परन्तु स्त्री का शोषण एवं उत्पीड़न दोनों ही स्थितियों में होता है। संयुक्त परिवारों में स्त्री 'पति' तथा पितृसत्ता के प्रतिनिधि के रूप में सास, ननद, जेठानी आदि के अत्याचारों का शिकार होती है तो वहीं परिवार में स्त्री अपनी इच्छा से गृहस्थी संवारने व चलाने के लिए तो स्वतंत्र होती है लेकिन वह द्वितीय श्रेणी की नागरिक ही मानी जाती है।

स्त्रियों की दीन-हीन दशा को देखते हुए भारतीय नवजागरण के दौरान स्त्रियों की स्थिति को सुधारने के लिए अनेक सकारात्मक प्रयास किये गए। जैसे-लड़कियों को शिक्षित करना, राजा राममोहन रॉय द्वारा सती प्रथा का विरोध, ईश्वरचंद्र विद्यासागर द्वारा विधवाओं की स्थिति में सुधार आदि, किन्तु समाज इन्हें कभी मुक्त हृदय से स्वीकार नहीं कर पाया। लड़कियों की शिक्षा के प्रसार में अनेक समाज सुधारकों ने योगदान दिया लेकिन लड़कियों की शिक्षा और पाठ्यक्रम को लेकर सबकी एक राय कि स्त्रियों को शिक्षा तो दी गयी किन्तु ऐसी शिक्षा जो उन्हें सुयोग्य कुलवधू सुधड गृहिणी एवं समर्पिता पत्नी और आदर्श माँ बना सके। भारतेन्दु भारतवर्षोन्नति कैसे हो सकती है' बलिया में दिए गए

सुप्रसिद्ध व्याख्यान में स्त्री शिक्षा पर अपने मंतव्य का खुलासा करते हुए कहते हैं- “लड़कियों को भी पढ़ाइए किन्तु उस चाल से नहीं जैसे आजकल पढ़ाई जाती हैं जिससे उपकार के बदले बुराई होती है। ऐसी चाल से उनको शिक्षा दीजिये कि वह अपना देश और कुल धर्म सीखें, पति की भक्ति करें और लड़कों को सहज में शिक्षा दें।” (स्त्री लेखन स्वप्न और संकल्प, पृ-46) इसी प्रकार विधवा विवाह को लेकर कानून तो पारित हो गया किन्तु लोग विधवा पुनर्विवाह के अधिकार को सहानुभूति नहीं दे पाए। भारतीय नवजागरण की ही तरह इससे उत्पन्न राष्ट्रीय स्वाधीनता आन्दोलन भी स्त्री की पीड़ा हीन सामाजिक स्थिति और स्वतंत्रता की आवश्यकता को पहचानता तो है, उसकी दुर्दशा पर दुखी होते हुए सैखान्तिक रूप में उसकी मनुष्यता को स्वीकार भी करता है किन्तु उसे मनुष्य का दर्जा नहीं देना चाहता। यह आन्दोलन गांधीजी के नेतृत्व एवं उनके व्यक्तित्व से काफी प्रभावित रहा। समग्रता में उनके विचारों की झलक इसमें साफ दृष्टिगत होती है जैसे ये स्त्रियों में शिक्षा, चेतना, साहस इत्यादि सभी देखना चाहते हैं उन्हे आन्दोलन में शामिल भी करते हैं। स्त्रियाँ घर से निकल सामाजिक, राजनैतिक आंदोलनों में हिस्सा ले इसके लिए वे इन्हें प्रेरित करते हैं लेकिन आर्थिक रूप में आत्मनिर्भर बनें ये वे नहीं चाहते। वे स्त्रियों को अधिकार तो देते हैं पर उस तक जहाँ तक पुरुष वर्चस्व पर आंच न आये। अन्य सामाजिक व सांस्कृतिक तत्वों के समान ही मूल्यों में भी समय, जाति, वर्ग, स्थान, क्षेत्र आदि के आधार पर भिन्नता पाई जाती है परन्तु व्यापक संस्कृति के पैमाने पर कुछ मूल्य सब जगह समान होते हैं। जैसे भारत में स्त्रियों की सती-सावित्री, नग्रता और सहनशीलता की मूर्ति का स्वरूप ही स्वीकृति है उनका दबंग और विद्रोही स्वरूप भारत के किसी भी जाति, वर्ग, समुदाय या क्षेत्र द्वारा न तो पसंद किया जाता है न स्वीकृत। यही कारण है कि अज्ञात हिन्दू महिला एवं दुखिनी बाला जैसी रचनाकार जो लैंगिक विभाजन को समाप्त कर मानवीय इकाई के रूप में स्त्री की प्रतिष्ठा करना चाहती हैं, उन्हें साहित्यिक परिदृश्य से ही गायब कर दिया जाता है।

समय-समय पर स्त्रियों की स्थिति को सुधारने के लिए सकारात्मक प्रयास किये जाते रहे हैं जिनका प्रतिनिधित्व स्त्री लेखिकाएं ही कर रही हैं। संचार क्रांति से महिला साहित्यकार विश्व साहित्य के निकट आई हैं प्रिंट और इलेट्रोनिक मीडिया ने महिला लेखन को प्रोत्साहित किया है तथा आर्थिक प्रगति ने पढ़ने एवं लिखने के अवसर प्रदान किये। परिणामतः हम देखते हैं कि हाथ में कलम लिए महिला साहित्यकारों की एक विशाल फौज खड़ी है। आजादी के संघर्ष में भी हजारों स्त्रियां आन्दोलन में आयी उनमें बहुत सी लेखिकाएं भी थीं जैसे-भिकाजी कामा, सरोजनी नायडू, कमला देवी, लक्ष्मी सहगल, राजकुमारी अमृतकौर आदि। इनके अतिरिक्त और भी अनेक महिलाएं भी जिन्होंने स्त्रियों की स्थिति को सुधारने के प्रयास किये। इस दृष्टि से बीसवीं शताब्दी बहुत महत्वपूर्ण दिखाई देती है, इस शताब्दी में सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक, धार्मिक एवं शैक्षणिक क्षेत्र में आमूल्य परिवर्तन परिलक्षित होते हैं। साहित्य के सन्दर्भ में देखें तो विभिन्न विधाओं के साथ ही पुरुष लेखकों की अपेक्षा स्त्री लेखिकाओं की संख्या में वृद्धि दिखाई देती है। शताब्दी के अंतिम दशक को देखा जाए तो यहाँ विधा में सृजन अधिक मात्रा में भिलता है। इस दशक के उपन्यास साहित्य में महिला लेखिकाएं अग्रिम पंक्ति में खड़ी हुई हैं। महिलाओं का साहित्य में प्रवेश होने से नारी-पुरुष संबंधों को नए ढंग से पेश किया गया या यूँ कि नारी की दृष्टि से पेश किया गया। यह साहित्य निरंतर नारी स्वाभिमान, विद्रोह, अस्मिता एवं नारी अस्तित्व के प्रश्न के लिए अभिवृद्ध हो रहा है। यूँ तो स्त्री विमर्श के मुद्दे पर पुरुषों द्वारा भी लेखन कार्य किया गया किन्तु पुरुष नारी के सन्दर्भ में कितना भी जागृत हो वह नारी के अंतर्मन को पूरी तरह पहचान नहीं सकता, उसके हर अनुभव को अंकित नहीं कर सकता। स्वानुभूति के साहित्य में जितनी सत्यता होती है उतनी अन्य में नहीं। इस सन्दर्भ में सूर्यबाला लिखती हैं - “नारी के अन्दर इतने गूढ़ तिलसम, गुफाएं और प्राचीर

हैं कि इहें भेदना आसान नहीं। जितनी सत्यता और इमानदारी से नारी भेद सकती है, पुरुष नहीं। बीसवीं शताब्दी के अंतिम दशक में लिखा गया स्त्री साहित्य ज्यादातर स्त्रियों द्वारा लिखा गया स्वानुभुतिपरक साहित्य है।

महिला लेखिकाएं नारी को केन्द्र में रखकर उपन्यासों का सृजन करती हैं तथा अंतिम दशक आते आते नारी जीवन के अलग-अलग पहलुओं में परिवर्तन आता है। पुरुष प्रधान संस्कृति के खिलाफ जंग छेड़ते हुए महिला लेखिकाओं ने नारी का दर्द ही नहीं उसके तीखे तेवर, विद्रोह और आक्रोश को भी रूपायित किया है। इस समय कृष्णा सोबती, मनू भंडारी, उषा प्रियवंदा, शशिप्रभा शास्त्री, राजी सेठ, दिनेश नंदिनी डालमिया, उषा चौधरी, कृष्णा अग्निहोत्री, मेहरुन्निसा परवेज, मृदुला गर्ग, ममता कालिया, शिवानी, सूर्यबाला, मैत्रेयी पुष्पा, प्रभा खेतान, मंजुला भगत सिंह, रमणिका गुप्ता, नासिरा शर्मा, गीतांजलि, पद्मा सचदेव आदि अनेक लेखिकाएं स्त्री मुद्दों पर अपनी कलम चलाती हैं। शिवानी अपने उपन्यासों में नारी व्यक्तित्व के विविध आयामों को उजागर करती हैं; शशिप्रभा शास्त्री ने नौकरी पेशा नारी की समस्याएँ एवं दामपत्य जीवन की विसंगतियों को मनोवैज्ञानिक आधार पर चित्रित किया है; मेहरुन्निसा परवेज़ की नारी में खड़ीवादी सामाजिक व्यवस्था में मुक्ति छठपटाहट दृष्टिगोचर होती है; मनू भंडारी के उपन्यासों में नारी की समस्याओं दामपत्य जीवन की त्रासदी, तलाक से उत्पन्न बालक की मनः स्थिति का चित्रण हुआ है; कृष्णा अग्निहोत्री के उपन्यासों में नारी की कुंठा, घुटन एवं उत्पीड़न को स्वाभाविक रूप में दर्शाया गया है; दिनेश नंदिनी डालमिया, राजी सेठ, उषा चौधरी आदि की औपन्यासिक कृतियों में पारिवारिक कलह, नयी पुराणी पीढ़ी का संघर्ष, निर्भक नारी का रूप परिलक्षित होता है; मृदुला गर्ग नारी का मानसिक द्वन्द्व धन प्राप्ति की लालसा कुंठा एवं हीनता से ग्रस्त नारी के रूपों को सामने लाती हैं तथा निरूपमा सेवती के उपन्यासों में यौन समस्या नौकरीपेशा नारी, धार्मिकता में जकड़न, नारी की समस्याओं को उजागर किया गया है। इस प्रकार इन महिला लेखिकाओं का साहित्य आधुनिक जीवन की जटिल परिस्थियों को अपने में समेट समय के साथ परिवर्तित होते मानवीय संबंधों का जीता जागता दस्तावेज है।

स्त्री विमर्श पर प्रायः यह आरोप लगाया जाता है कि यह पुरुष विरोधी है। यहाँ यह स्पष्ट करना आवश्यक है कि स्त्री विमर्श की अवधारणा न तो प्रतिशोधात्मक है और न ही पुरुष विरोधी वरन् स्त्री की सभी प्रकार के शोषण से मुक्ति की कामना के साथ सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक क्षेत्रों में पुरुषों के समान अधिकार दिलाने का सकारात्मक प्रयास है। यह स्त्री को दोयम दर्जे का प्राणी मानने का विरोध करता है तथा एक जीवंत इकाई समझने की मांग करने के साथ पिरुसत्तात्मक व्यवस्था की पड़ताल करते हुए विवाह संस्था, धर्म मीडिया की स्त्री विरोधी भूमिका पर प्रकाश भी डालता है।

वर्तमान समय में स्त्री लेखिकाएं अपने अस्तित्व एवं हक के लिए आवाज उठाने के साथ ही तटस्थ और बेबाक होकर समाज व्यवस्था की समीक्षा करते हुए अन्य सामाजिक मुद्दों पर भी अपनी कलम चला रही है। जैसे-‘कथासतीसर’ में चंद्रकांता कश्मीर समस्या के अंतर्राष्ट्रीय पहलुओं के साथ राष्ट्रीय राजनीति व संस्कृति पहलुओं पर भी विचार करते हैं। मनू भंडारी का उपन्यास ‘महाभोज’ विद्रोह का राजनीतिक उपन्यास है। ‘अल्मा कबूतरी’ में मैत्रेयी पुष्पा जनजाति की तीन पीढ़ियों के संघर्ष को सामने रखती हैं। ‘हमारा शहर उस बरस’ में गीतांजलि श्री साम्राज्यिकता की समस्या पर लिखती हैं तो मनीषा कुलश्रेष्ठ का ‘शिगाफ’ उपन्यास विस्थापन की समस्या पर लिखा गया महत्वपूर्ण है। ‘खुले गगन के लाल सितारे’ में मधु कांकरिया नक्सलवादी आन्दोलन के चित्रण के जरिये अपनी सुस्पष्ट राजनीतिक समझ का परिचय देती है तथा ‘पत्ताखोर’ इनके सामाजिक सरोकरों का विस्तार है। इस प्रकार

की रचनाएँ इस धारणा को तोड़ती हैं, कि महिलाएं या तो घर परिवार के बारे में लिखती हैं या अपनी भावनाओं की दुनिया में ही रहती है। वर्तमान समय में महिला लेखिकाएँ घर संबंधों के संकुचित दायरे से निकल वृहत्तर सामाजिक मुद्दों पर भी अपनी लेखनी चला रही हैं।

सन्दर्भ :

1. स्त्री लेखन : स्वप्न और संकल्प - रोहिणी अग्रवाल राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण 2011
2. उपनिवेश में स्त्री - प्रभा खेतान, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण 2003
3. आदमी की निगाह में औरत - राजेन्द्र यादव, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, द्वितीय संस्करण 2007
4. साहित्य का स्त्री स्वर - रोहिणी अग्रवाल, साहित्य भंडार, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण 2015

—x—